भक्तिसूत्र वैजयन्ती

अर्थात्

श्रीशाण्डिल्य ऋषि के भक्ति के सौ सूत्रों पर

भाषा भाष्य

तदीयनामांकित अनन्य वीरवैष्णव

श्रीहरिश्चन्द्र

लिखित

मल्लिकचन्द्र और कम्पनी द्वारा प्रकाशित

॥ बनारस ॥

मेडिकल हाल के छापेखाने में छापी गई।

सन् १८८३ ई०।

प्रानप्यारे !

देखो आज बसन्त पंचमी है इससे बहुत लोग आम
मौर वा फूलों के गुच्छे लेकर तुमको मिलने आवेंगे तो मैं
यह एक फूलों की वैजयन्ती माला बनाकर लाया हूं अंगीका
करो; वैजयन्ती माला बनाने का यह हेतु है कि जनमाल
होगी तो होली के खेल में अरुझैगी और इसके सिवाय इ
वैजयन्ती से निश्चय करके ज्ञानादिक को जय करना है. प
ारे! बहुत सम्हाल के यह माला पहरना टूट न जाय
क्योंकि सूत कच्चा है और कलियां ताजी और कोमल हैं इसमे
कुम्हिलाने का भी भय है; जो हो इस बसन्त पंचमी के
त्योहारी मुझे यही दो कि इस सत्यानाशी 'अहं ब्रह्म वाद' के
पूर्ण रूप से नाश करके और भी सब बातों में इस नव बसं
में भारतवर्ष की सब आपत्तियों का बसअंत करो और अपने
भक्तों के चित्त में प्रेम के नव पल्लव फिर से लहलहे [illegible] दे
सदा एक रस रहैं ।

माघ शु. ५ सं. १९३० } तुम्हारा हरिश्चन्द्र
काशी

([illegible]

तत्संस्थ[illegible]स्यामृतत्वोपदेशा[illegible]

क्योंकि उसमें जो चित्त लगाता है वह अमृ[illegible] [illegible]हात्माओं ने कहा है ॥ ३ ॥

[illegible]ज्ञानमिति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थितेः ॥

[illegible] भक्ति ईश्वर विषयक ज्ञान मात्र है यह संदेह मत [illegible] क्योंकि ज्ञान तो द्वेषियों को भी होता है पर उस ज्ञान से प्रीति नहीं होती ॥ ४ ॥ जैसे कोई किसी मनुष्य को जानता है कि वह अमुक है और उसको अमुक अधिकार है पर इतना जानने ही से उस मनुष्य [illegible]ी उसमें प्रीति हो यह नियम नहीं ॥

तयोपक्षयाच्च ॥ ५ ॥

[illegible]क्योंकि पूरी भक्ति से ज्ञान का क्षय होता है ॥ ५ ॥ जैसे श्री गोपी जन जो महात्म ज्ञान पूर्ण था तथापि प्रियतम [illegible] इत्यादि [illegible]ाम से भगवान को पुकारती थीं। अथवा भक्ति से ज्ञान अर्थात् भक्ति वासना क्षय हो जाती है जैसा आपने श्रीमुख से कहा है कि यद्यपि मैं चारों प्रकार की मुक्ति देता हूं तथापि मेरे भक्त मेरी सेवा छोड़ कर नहीं लेते

द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः ॥ ६ ॥

द्वेष के प्रतिकूल होने से और रस शब्द प्रतिपाद्य होने से उस भक्ति का नाम अनुराग है ॥ ६ ॥ क्योंकि स्नेह और विरोध दो वस्तु अलग हैं और भी किसी के द्वेषी से विरोध नहीं करेगा जिसका उसमें पूर्ण अनुराग होगा और ज्ञान में यह बात नहीं क्योंकि स्वरूपज्ञान द्वेषियों को भी होता ही है और रस परम आनन्द रूप है

॥ ... शत सूत्री भाषा भाष्य सहित ॥

नमश्शाण्डिल्याय तन्मतप्रवर्त्तकाचार्य्येभ्य:

श्री वल्लभेभ्यश्च नमः

जेहि लहि फिर कछु लहन कौं आश न चित में होय ।
जयति जगत पावन करन प्रेम बरन यह दोय ॥

ओं अथातोभक्तिजिज्ञासा ॥ १ ॥

जीवों को कर्म्म ज्ञानादिक अनेक साधनो से खिन्न होकर भी शान्ति न पाते देख कर भगवान शांडिल्य ने भक्ति शास्त्र प्रगट करने की इच्छा से यह भक्ति के सौ सूत्र कहते हुए इस प्रेम मार्ग का प्रवर्त्त किया इसमें पहिले पूर्वोक्त सूत्र कहा । अब भक्ति की जिज्ञासा अर्थात् विचार आरंभ करते हैं ॥ १ ॥ यद्यपि ज्ञान कर्म्मादिकों की भांति भक्ति भी स्वसाध्य नहीं है तथापि जो भक्ति मार्ग पर प्रवर्त्त होते हैं उनको भगवान भक्ति देता है इस आशा से भक्ति मीमांसा आरंभ करते हैं ॥

सा परानुरक्तिरीश्वरे ॥ २ ॥

सो भक्ति ईश्वर में पूरे अनुराग को कहते हैं ॥ २ ॥ यहां परा शब्द कामनाओं की निवृत्ति के हेतु और अनुरक्ति शब्द हृदय के भीतरी प्रेम के अर्थ दिया है और ईश्वर शब्द महात्म ज्ञान के हेतु है जैसा श्रीगोपीजन का ॥

Page No 5-6 wanting

तथापि जो गति केवल प्रेम से श्री गोपीजन को मिली सो किसी को न मिली ॥

भक्त्या जानातीति चेन्नाभिज्ञप्त्या साहाय्यात् ॥ १५ ॥

जो कहो भक्ति से ज्ञान होता है सो नहीं क्योंकि ज्ञान तो भक्ति का सहायक है ॥ १५ ॥ क्योंकि जो मनुष्य को ईश्वर विषयक महात्म्यज्ञान होगा तभी भक्ति में प्रवृत्ति होगी ॥

प्रागुक्तं च ॥ १६ ॥

पहिले कहा भी है ॥ १६ ॥ अर्थात् श्री गीता जी में अठारवें अध्याय के चोवन श्लोक में आप ने श्रीमुख से कहा है ब्रह्म भाव पाकर प्रसन्न आत्मा न कुछ सोचता है न कुछ चाहता है तब लोगों को समान दृष्टि से देखता हुआ मेरी भक्ति पाता है ॥

एतेन विकल्पोऽपि प्रत्युक्तः ॥ १७ ॥

इससे विकल्प भी निरस्त हुआ ॥ १७ ॥ अर्थात् ज्ञान के अङ्गत्व निर्णय में जो कुछ संदेह था वह ऊपर के भगवत् वाक्य से मिट गया और भक्ति का अंगित्व निश्चय हुआ ॥

देवभक्तिरितरस्मिन् साहचर्यात् ॥ १८ ॥

ईश्वर के अतिरिक्त देवताओं की भक्ति भी उस परा भक्ति के समान नहीं क्योंकि जगत में उसके समान और भी भक्तियां हैं ॥ १८ ॥ जैसा लिखा है जैसी देवता में भक्ति करनी वैसी गुरु में करनी तो इस सूत्र से अनन्य भक्ति स्थापन किया ॥

योगस्तूभयार्थमपेक्षणात् प्रयाजवत् ॥ १९ ॥

और योग तो वाजपेय यज्ञ में प्रयाज की भांति भक्ति और ज्ञान दोनों का अंग है ॥ १९ ॥ इससे योग की अंगता दिखलायी ॥

गौण्या तु समाधिसिद्धिः ॥ २० ॥

गौणी भक्ति से तो समाधि की सिद्धि होती है ॥ २० ॥ इससे परा भक्ति की अपेक्षा इसकी महा गौणता सिद्ध हुई ॥

हेयारागत्वादितिचेन्नोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत् ॥ २१ ॥

भक्ति राग है इस्से (राग को कोई ऋषि दुःख स्वरूप मानते हैं यह समझकर) त्याग करने के योग्य है यह नहीं क्योंकि इसका आश्रय उत्तम है सङ्ग की भांति ॥ २१ ॥ जैसा साधारण स्त्री पुरुष के अनुराग में परस्पर वियोग का . र संयोग छूटजाने का दुःख होता है और ईश्वर के अनुराग में नहीं होता क्योंकि संग दुख दाई है यह नियम नहीं है सत्संग से अनेक सुख होते हैं वैसेही ईश्वर का अनुराग परम सुख स्वरूप है ॥

तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात् ॥ २२ ॥

इस्से भक्ति ही मुख्य है क्योंकि कर्म्मी ज्ञानी और योगियों से उसको अधिक कहा है ॥ २२ ॥ श्रीगीताजी के छठवें अध्याय के ४६ और ४७ वें श्लोक में आपने श्रीमुख से कहा है कि तपस्वी ज्ञानी और कर्म्मी से योगी अधिक है और योगियों में हमारे भक्त अधिक हैं ॥

प्रश्ननिरूपणाभ्यामाधिक्यसिद्धेः ॥ २३ ॥

यह आधिक्यता प्रश्नोत्तर से सिद्ध है ॥ २३ ॥ श्री गीताजी में १२ वें अध्याय में अर्जुन ने पूछा है कि जो अक्षर की उपासना करते

हैं और जो आप की भक्ति करते हैं उन में मुख्य कौन है इसके उत्तर में आपने कहा है कि जो श्रेष्ठ भक्त हैं वे अधिक हैं ॥ इससे बिना किसी अर्थवाद से भक्ति की परमोत्तमता सिद्ध हुई ॥

नैव श्रद्धा तु साधारण्यात् ॥ २४ ॥

श्रद्धा सी भक्ति नहीं है क्योंकि उसको साधारणता है ॥ २४ ॥ क्योंकि श्रद्धा कर्म्मादिकों में भी होती है ॥

तस्यां तत्त्वे चानवस्थानात् ॥ २५ ॥

क्योंकि श्रद्धा से भक्ति तत्व की एकता करने से अनवस्था होती है ॥ २५ ॥ अर्थात् श्रद्धावान भजन करता है ऐसा लोग कहते हैं तो यदि श्रद्धा भक्ति एक ही होती तो अङ्ग भाव से प्रयोग न होता ॥

ब्रह्मकाण्डं तु भक्तौ तस्यानुज्ञानाय सामान्यात् ॥ २६ ॥

अतएव भक्ति प्रतिपादन के अर्थ उत्तरकांड की संज्ञा ब्रह्मकांड से ज्ञानकांड की सामान्यता है ॥ २६ ॥ अर्थात् जो ज्ञान की मुख्यता होती तो अथातो ब्रह्मजिज्ञासा यह न कहते इससे कंठरव से ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की उत्तमता से सिद्ध किया ॥

इति २ आः । इति १ अध्याय ॥

बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत् ॥ २७ ॥

बुद्धि के हेतुओं की प्रवृत्ति धान कूटने की भांति विशुद्धि तक है ॥ २७ ॥ बुद्धि अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार यद्यपि क्रत्यनिष्पाद्य नहीं अर्थात् अपने किए हुए उपायों से बाहर है तोभी उसके हेतु श्रवण मननादिकों का अनुष्ठान आवश्यक है जैसे जब तक सर्वाछिल के बराबर न निकल जाय धान शुद्ध न होगा ॥

तदङ्गानाञ्च ॥ २८ ॥

उसके अंगों की भी ॥ २८ ॥ अर्थात् जैसे श्रवण मननादिक की आवश्यकता है वैसे ही गुरु की सेवा आदि उसके उपायों की भी है ॥

तामैश्वर्य्यपदां काश्यपः परत्वात् ॥ २९ ॥

उसको काश्यपाचार्य्य ऐश्वर्य्यपदा कहते हैं अलग होने से ॥ २९ ॥ अर्थात् सर्वैश्वर्य्यमय ईश्वर को मान कर उसकी सेवा करना यही पुरुषार्थ कहते हैं इसके मत में जीव और ईश्वर का नित्य भेद प्रगट हुआ ॥

आत्मैकपरां बादरायणः ॥ ३० ॥

बादरायण आचार्य इसको आत्मपर कहते हैं ॥ ३० ॥ वेदान्त सूत्र में व्यासजी का मत है कि आत्मज्ञानही से सिद्धि मिलती है ॥

उभयपरां शांडिल्यः शब्दोपपत्तिभ्यां ॥ ३१ ॥

शाण्डिल्याचार्य्य शब्द और उपपत्ति से उभय पर कहते हैं ॥ ३१ ॥ युक्तिओं से और वाक्यों से जीव का ईश्वरांश होना सिद्ध है और ईश्वर में सर्व सामर्थ्य इत्यादि दिव्यगुण उसकी विलक्षणता भी प्रकाश करते हैं इससे शाण्डिल्य दोनों मत मानते हैं अर्थात् अपने को ईश्वरांश मान करके भी उसकी उपासना करना ॥

वैषम्यादसिद्धमितिचेन्नाभिज्ञानवदवैशिष्ट्यात् ॥ ३२ ॥

वैषम्य से असिद्ध होगी ऐसा नहीं है क्योंकि ज्ञान की भांति अवैशिष्ट्य है ॥ ३२ ॥ अर्थात् जिस रीति "यह वह है" यह भूत वर्तमान और काल की प्रतीति एकही समय होती है क्योंकि दोनों

काल का विषय (यज्ञ और ब्रह्म शब्दों से प्रतिपाद्य) एक ही है वैसे ही ईश्वर में भी वैषम्य दोष नहीं आसक्ता ॥

न च क्लिष्टः परः स्यादनन्तरं विशेषात् ॥ ३३ ॥

पर (परमात्मा) को कभी इस वैषम्य से क्लेश नहीं होता क्योंकि (ज्ञान के) अनन्तर विशेष होता है ॥ ३३ ॥ अर्थात् जीव और ईश्वर में जो विशेषता है वह ज्ञान से प्रतीत होती है

ऐश्वर्य्यं तथेति चेन्न स्वाभाव्यात् ॥ ३४ ॥

ऐश्वर्य भी क्लिष्ट नहीं होसक्ता क्योंकि वह स्वाभाविक है ॥ ३४ ॥ ईश्वर का ऐश्वर्य्य कुछ उपाधि भूत वा उपाधिजन्य नहीं किन्तु नैसर्गिक है इसी हेतु इसमें भी क्लेश नहीं होसक्ता ॥

अप्रतिषिद्धं परैश्वर्यं तद्भावाच्चनैवमितरेषाम् ॥ ३५ ॥

(ईश्वर का) परमैश्वर्य्य कहीं भी प्रतिषिद्ध नहीं होता परंच उसका नैसर्गिक पन प्रगट होता है, दूसरों का (जीवों का) ऐसा नहीं ॥ ३५ ॥ यह शंका न हो कि ईश्वर का जब ऐश्वर्य ऐसा है तो जीवों का भी ऐसाही होगा ईश्वर का यह सर्व स्वाभाविक है और जीवों का नहीं ॥

सर्वान्मृतेर्किमितिचेन्नैवं बुद्ध्यानन्त्यात् ॥ ३६ ॥

सबके बिना (उस का) क्या प्रयोजन है? ऐसा नहीं क्योंकि बुद्धि का आनन्त्य है ॥ ३६ ॥ अर्थात् यदि सब जीव क्रमशः मुक्त होंगे तो ईश्वर के ऐश्वर्य का क्या प्रयोजन है तो उसका भी क्यों नहीं लय मानते ऐसा कहोगे तो यह असंभव है क्योंकि बुद्धिका

अन्त नहीं हो सक्ता इस हेतु यह कल्पना मात्र है और ऐसा कालही नहीं कि जिसमें सब जीव एक बार मुक्त होजांय और महा प्रलय में जो जीव मुक्त होते हैं वे वासनासहित होते हैं ॥

प्रकृत्यन्तरालादवैकार्यंचित्सत्त्वेनानुवर्तमानत्वात् ॥ ३७ ॥

प्रकृत्यन्तराल से और चित्सत्त्व के अनुवर्तमान होने से (ईश्वर को) अविकारिता है ॥ ३७ ॥ यदि ईश्वर में उत्पत्ति कर्तृत्वादि ऐश्वर्य स्वाभाविक है तो यह भी एक प्रकार का विकार हुआ उसका निवारण करते हैं कि प्रकृति को ईश्वर विकृत करके उत्पत्ति आदि करता है जैसे मायावी अपनी माया से अन्य वस्तुओं में विकार कर देता है परन्तु आप नहीं विकार पाता अर्थात् ईश्वर दुग्ध के कार्य की भांति विकृत नहीं होता परंच सुवर्ण के विकार की भांति और उसमें जीव सत्त्व जो वर्तमान रहता है वह माया से पर है ॥

तत्प्रतिष्ठा गृहपीठवत् ॥ ३८ ॥

उसकी प्रतिष्ठा का व्यवहार घर में पीढ़े पर प्रतिष्ठा की भांति है ॥ ३८ ॥ अर्थात् प्रकृति के विकार से जगत् माया में प्रतिष्ठित है? यह शंका न हो जैसे किसी के घर में पीढ़े पर कोई बैठा है तो ऐसा कहने में आवेगा कि अमुक पीढ़े पर बैठा है पर वास्तव में वह पीढ़ा और मनुष्य दोनो घर में हैं; वैसेही माया और संसार दोनो ईश्वर में हैं ॥

मिथोपेक्षणादुभयं ॥ ३९ ॥

परस्पर की अपेक्षा से दोनो कारण हैं ॥ ३९ ॥ अर्थात संसार की उत्पत्ति में माया और ईश्वर दोनोही आवश्यकहैं ॥

चेत्याचितोर्नतृतीयं ॥ ४० ॥

प्रकृति और ब्रह्म में भेद नहीं है ॥ ४० ॥ अर्थात् इनमें तृतीय भाव नहीं है दोनो एक हैं इस से प्रकृति स्वतंत्र कोई अलग है इसका निषेध किया ॥

युक्तौच संपरायात् ॥ ४१ ॥

वियोग के पूर्व दोनो एक हैं ॥ ४१ ॥ अर्थात् सृष्टि होने के समय ब्रह्म और प्रकृति अलग २ होते हैं परन्तु जड़ाजड़ के भेद से नित्य में इनका अनन्य संबंध है ॥

शक्तित्वान्नानृतं वेद्यं ॥ ४२ ॥

शक्ति के कार्य होने से यह जगत् मिथ्या नहीं है ॥ ४२ ॥ अर्थात् जगत् माया का कार्य है इस से उसको झूठा नहीं मानना क्योंकि ब्रह्म सत्य है तो उसकी शक्ति भी सत्य है प्रकृति केवल जड़मात्र तो है पर मिथ्या नहीं ॥

तत्परिशुद्धिश्चगम्यालोकवल्लिंगेभ्यः ॥ ४३ ॥

उस (भक्ति) की परिशुद्धि लोक के (प्रेमके) चिन्हों से जानना ॥ ४३ ॥ अर्थात् अश्रु, रोमांच, गद्गद इत्यादि स्थायी भावों से किस को कितना प्रेम है यह प्रगट होता है ॥

सम्मान बहुमान प्रीति विरहेतरविचिकित्सा महिमख्याति तदर्थप्राणस्थान तदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनिच स्मरणेभ्यो बाहुल्यात् ॥ ४४ ॥

सम्मान, बहुमान, प्रीति, विरह, इतरविचिकित्सा अर्थात् आग्रह

पूर्वक दूसरे की अनपेक्षा, महिमा का कथन, प्रियतमही के हेतु प्राण रक्षण, तदीयता, सब उसके भावों से देखना, अप्रातिकूल्य अर्थात् अनुकूलता, इत्यादि प्रीतिके लक्षण हैं ॥ ४४ ॥

सम्मान जैसा अर्जुन का, बहुमान इक्ष्वाकु का कि भगवान के नाम वा वर्णो से जिन वस्तुवों में संबंध था उनका भी आदर करता था, प्रीति विदुर की, विरह श्रीगोपीजनका, इतरविचिकित्सा उपमन्यु की और श्वेतद्वीपवासी की तथा चित्रकेतु की, महिमख्याति यम भीष्म और व्यास की, तदर्थ प्राणस्थिति व्रज के लोग तथा हनुमानजी की, तदीयता बलि की और उपरिचर वसु की, तद्भाव श्रीअक्रूरजी का, अप्रातिकूल्य भीष्म तथा धर्मराज का, आदि शब्द से नारद उद्धवादि भक्तों की प्रीति की चेष्टा और लक्षण जानना ॥

द्वेषादयस्तुनैवं ॥ ४५ ॥

द्वेषादिक से ऐसी नहीं होगी ॥ ४५ ॥ शिशुपाल इत्यादि के प्रकरण में भक्ति से उनको मुक्ति नहीं हुई किन्तु भगवान के महिमा बल से, भक्तों को तो द्वेषादिक होते ही नहीं ॥

तद्वाक्यशेषात् प्रादुर्भावेष्वपि सा ॥ ४६ ॥

उसके वाक्य शेष से अवतारों में भी वह है ॥ ४६ ॥ मत्स्यादिक अवतारों में शिवादि गुण स्वरूपों में संकर्षणादि व्यूहों में तथा आचार्यादि प्रादुर्भावों में भी परा भक्ति योग्य है ॥

जन्मकर्मविदश्चाजन्मशब्दात् ॥ ४७ ॥

जन्मकर्मों के जानने की सिद्धि भी अजन्म शब्द से है ॥ ४७ ॥ अर्थात् जो उसके जन्म कर्मों को जानता है वह फिर जन्म नहीं

पाता किन्तु उसको पाता है । यह श्री गीता के ४ अध्याय के ९ श्लोक में कहा है ॥

तत्तदिव्यं स्वशक्तिमात्रोद्भवात् ॥ ४८ ॥

उसके जन्म कर्मादिक दिव्य हैं क्योंकि केवल उसकी शक्तिमात्र से अनेक प्रकार के दिखाई पड़े हैं ॥ ४८ ॥ यह ९ श्लोक और उसी अध्याय के छठें श्लोक से सिद्ध है ॥

मुख्यं तस्यहिकारुण्यं ॥ ४९ ॥

उसके जन्मादिकों में उसी की करुणा मुख्य है ॥ ४९ ॥ अर्थात् ईश्वर बाधित हो के नहीं जन्म लेता केवल अपनी अपार कृपा से जीवों के उद्धार के हेतु अनेक प्रकार के रूप धारण करता है ॥

प्राणित्वान्नविभूतिषु ॥ ५० ॥

प्राणी होने से ब्राह्मण राजादि भगवद्विभूति में भक्ति सिद्धि देने वाली नहीं होती ॥ ५० ॥

द्यूतराजसेवयोः प्रतिषेधात् ॥ ५१ ॥

द्यूत और राजसेवा के निषेध से ॥ ५१ ॥ क्योंकि गीता जी में आपने श्रीमुख से राजा और जूए को विभूति कहा है और शास्त्र में उसका निषेध है । इससे विभूतियों में भक्ति नहीं करनी ॥

वासुदेवेपीतिचेन्न आकारमात्रत्वात् ॥ ५२ ॥

श्रीवासुदेव में भी विभूति की शंका नहीं करनी क्योंकि वहां तो चीनी की पुतली की भांति कर पाद मुख उदर आदि सब आकार आनन्दमय हैं ॥ ५२ ॥

प्रत्यभिज्ञानाच्च ॥ ५३ ॥

(श्रीगोपालतापनी, महाभारत, श्रीभागवत आदि पुराण तथा वैष्णवनिबंधों में) भगवान की परब्रह्मता ज्ञापित है ॥ ५३ ॥

वृष्णिषुश्रैष्ठ्येनैतत् ॥ ५४ ॥

विभूति में श्रीवासुदेव का कथन केवल यादवों में श्रेष्ठता के हेतु है ॥ ५४ ॥

एवं प्रसिद्धेषु ॥ ५५ ॥

इसी प्रकार श्रीरामादि प्रसिद्ध भगवदवतारों का भी विभूति में कथन केवल उस प्रकार की विभूति में श्रेष्ठता दिखाने के हेतु है। अर्थात् जो प्रसिद्ध भगवत्स्वरूप हैं उनमें विभूति बुद्धि न करनी ॥ ५५ ॥

दूसरे अध्याय का पहिला आह्निक समाप्त हुआ।

भक्त्या भजनोपसंहाराद्गौण्यापरायैतद्धेतुत्वात् ॥ ५६ ॥

भक्ति से यहां गौण भक्ति लेनी क्योंकि उसका अर्थ भजन अर्थात् सेवा है और यह भक्ति पर में हेतु है ॥ ५६ ॥ क्योंकि गौण भक्ति से मुख्य भक्ति के साधन के बाधक दूर होते हैं और परा भक्ति सिद्ध होती है ॥

रागार्थप्रकीर्तिसाहचर्याच्चेतरेषाम् ॥ ५७ ॥

गी॰ अ॰ ९॰ श्लो॰ १४ में कीर्त्तन के साथ कहे हुए नमस्कारादि कर्म्मों का फल केवल राग अर्थात् परा भक्ति है क्योंकि "स्थाने हृषीकेश" इस श्लोक में कीर्त्तन का फल अनुराग कहा है और

पूर्व्वोक्त १४ श्लोक में कीर्त्तन के साथ नमनादिक का कथन है इस्से नमनादिक का भी वही फल है ॥ ५७ ॥

अन्तराले तु शेषाः स्युरुपास्यादौ च काण्डत्वात् ॥ ५८ ॥

गीता जी के ९ अध्याय में १३ वें श्लोक से २९ श्लोक तक और जितनी भक्तियां कहीं हैं वह बीच की हैं क्योंकि उपासनादि परा भक्ति की साधक हैं ॥ ५८ ॥

ताभ्यः पावित्र्यमुपक्रमात् ॥ ५९ ॥

इन गौणी भक्तियों से पवित्रता अर्थात् मन की शुद्धता होती है क्योंकि उसी अध्याय के दूसरे श्लोक में इनको पवित्र कहा है ॥ ५९ ॥

तासु प्रधानयोगात् फलाधिक्यमेके ॥ ६० ॥

कोई कोई आचार्य्य कहते हैं कि इन गौण भक्तियों ही में प्रधानता के कारण फल अधिक है ॥ ६० ॥

नाम्नेति जैमिनिः सम्भवात् ॥ ६१ ॥

जैमिनि आचार्य्य का मत है कि उनको मुख्यता नहीं है यहां उनका नाम मात्र कथन है ॥ ६१ ॥ अर्थात् पूर्व्वोक्त श्रीगीता जी के श्लोकों में उनका मुख्यता करके नहीं कथन है वरंच गिनती मात्र गिनायी है ॥

अत्राङ्गप्रयोगानां यथाकालसम्भवो गृहादिवत् ॥ ६२ ॥

यहां अंग के प्रयोगों का घर के अंगों की भांति यथा काल सम्भव है ॥ ६२ ॥ अर्थात् जैसे घर में पहिले नेव तब द्वार तब छत इत्यादि अंगों का प्रयोग एक के बनने पर यथा काल होता है वैसे ही परा

भक्ति की साधन अंग भक्तियों का यथा समय प्रयोग होता है क्योंकि पहिले गुण श्रवण करैगा तब श्रद्धा होगी तब भजैगा सेवैगा इत्यादि अनेक भक्तियों के पीछे परा भक्ति पावैगा ॥

ईश्वरतुष्टेरेकोऽपि बली ॥ ६३ ॥

ईश्वर की तुष्टि के हेतु एक साधन करने वाला भी बली है ॥ ६३ ॥ अर्थात भजन वा कीर्त्तन कोई एक साधन भी दृढ़ करके जो करैगा तो उसकी उस एक साधन पर दृढ़ता ईश्वर के तुष्टि की कारण होगी अर्थात् परा भक्ति की कारण होगी क्योंकि परा भक्ति स्वसाध्या नहीं है केवल ईश्वर के प्रसन्न होने से मिलती है ॥

अबन्धोऽर्पणस्यमुखम् ॥ ६४ ॥

अर्पण का मुख अबंध है ॥ ६४ ॥ भगवान में शुभाशुभ कर्मों का अर्पण अबंध का द्वार है यह कीर्त्तनादिक गौणी भक्तियों के अतिरिक्त परा भक्ति सिद्धि का उपायांतर कहते हैं क्योंकि यज्ञादिक में से बहुत काल में अनेक लोक प्राप्ति द्वारा क्रमशः ईश्वर लोक प्राप्ति के कष्ट निवारण के हेतु सब कर्मों का समर्पण सहज उपाय है ॥

ध्याननियमस्तु दृष्टसौकर्यात् ॥ ६५ ॥

जिसका दर्शन अपने नेत्रों को जंचे उसी भाव से चिंतन करना यही ध्यान का नियम है ॥ ६५ ॥ भक्ति यदि स्वाभाविक होती है तो उत्तमा होती है क्योंकि हठ से की हुई भक्ति चिरकाल में सिद्ध होती है इसी हेतु कहते हैं कि भगवान के स्वरूप के ध्यान में हठ करके कोई नियम न मानना जो स्वरूप अपने नेत्रों को स्वभावतः जंचे उसी का ध्यान करना ॥

तद्यजिः पूजायामितरेषां नैवम् ॥ ६६ ॥

"यान्तिमद्याजिनोपि मां" इस वाक्य में यजन शब्द भगवत्पूजन के अर्थ है इतरयागादिकों के लिये नहीं ॥ ६६ ॥

अर्थात् यज्ञादिक में कामना और हिंसादि अनेक दोष हैं इससे भगवान को यजन किसी और कर्म मार्ग के उपायों से न करना किन्तु केवल भगवत्स्वरूप की सेवा करनी ॥

पादोदकं तु पाद्यमव्याप्तेः ॥ ६७ ॥

भगवन्मूर्तियों के स्नान का जल ही पादोदक है अव्याप्ति से ॥ ६७ ॥ अर्थात् साक्षाद्भगवान् वा अन्य किसी अवतार के चरण का जल ही चरणामृत है यह हठ न करना क्योंकि इस समय उसकी प्राप्ति कहां और पादोदक में चरण ही की मुख्यता न माननी क्योंकि श्रीशालग्राम का स्नान जल भी पादोदक कहावेगा ॥

स्वयमर्पितं ग्राह्यमविशेषात् ॥ ६८ ॥

अपनी समर्पण की हुई वस्तु को आप लेना क्योंकि विशेषता नहीं है ॥ ६८ ॥ अपनी समर्पण की हुई वस्तु है इस भ्रम से प्रसाद लेने में संकोच न करना क्योंकि वैष्णवों को भगवत्प्रसाद लेने की आज्ञा है और उस समर्पण करने वाले में कोई विशेष नहीं अर्थात् वह भी वैष्णवान्तः पाती है ॥

निमित्तगुणाव्यपेक्षणादपराधेषु व्यवस्था ॥ ६९ ॥

निमित्त, गुण और अनपेक्षा से अपराधों की व्यवस्था है ॥ ६९ ॥ भगवत्सेवा में जो ३२ अपराध कहे हैं वे तीन भांति के हैं एक तो वे कि जैसे किसी कारण से हो जांय दूसरे वे जिनके करने का

नित्य स्वभाव है और तीसरे वे जो भूले से हों इन तीनों की व्यवस्था अलग है जैसे अनिच्छापराध से निमित्तापराध और निमित्तापराध से नित्यापराध बढ़कर है ॥

पत्रादेर्दानमन्यथा हि वैशिष्ट्यम् ॥ ७० ॥

पत्रपुष्पादि का दान सर्व समान (समान फल रूप) है ॥ ७० ॥ क्योंकि भगवान को पत्र का दान और स्वर्ण कोटि का दान दोनों समान संतोष करने वाला है ॥

सुकृतजत्वात्परहेतुभावाच्च क्रियासु श्रेयस्यः ॥ ७१ ॥

ये भक्तियां पराभक्ति की कारण और पुण्यरूप हैं इससे सब क्रियाओं में श्रेयस्कर हैं ॥ ७१ ॥

गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम् ॥ ७२ ॥

(गीताजी के ७ अ॰ श्लो॰ १६ में आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चारों प्रकार के भक्त कहे हैं उन चारों की समता नहीं) गौणी भक्ति उसमें तीन ही हैं और स्तुति के अर्थ इनको ज्ञानी की भक्ति के साथ लिखा है ॥ ७२ ॥ क्योंकि आर्त की भक्ति अपनी विपत्ति मिटाने के हेतु है, जिज्ञासु की जानने के हेतु और अर्थार्थी की भक्ति अपने काम के हेतु है और ज्ञानी की भक्ति केवल प्रेम से है ॥

बहिरन्तरस्थमुभयमवेष्टिसववत् ॥ ७३ ॥

(यद्यपि कीर्तनादिक भक्तियां परा भक्ति की अंग हैं परन्तु यदि कीर्तनादि किसी में विशेष रुचि होय तो उस भक्ति में उस भक्ति की मुख्यता होगी क्योंकि) पराभक्ति के भीतर की भक्ति भी कहीं कहीं बाहर अर्थात् स्वतंत्र गिनी जाती है जैसे यज्ञ की अवेष्टि यज्ञ

के अन्तर्गत और बहिर्गत भी है जैसे वाजपेय यज्ञ के अंग में वृहस्पतिसव आजाता है परन्तु वृहस्पतिसव की विशेष महिमा वेद में अलग भी लिखी है ॥ ७३ ॥

स्मृतिकीर्त्त्योः कथादेश्चार्त्तौ प्रायश्चित्तभावात् ॥ ७४ ॥

कथादिकों का स्मरण और कीर्तन आर्त-भजन में प्रायश्चित्त भाव से है ॥ ७४ ॥ अर्थात् आर्तलोग अपने पाप वा आपत्ति मिटाने के हेतु कीर्तनादि करते हैं इससे यहां कीर्तनादिक में विशेषता नहीं है ॥

भूयसामननुष्ठितिरिति चेदाप्रयाणमुपसंहारान्महत्स्वपि ॥ ७५ ॥

जो कहो कि भक्ति करने वाले बहुत कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते सो नहीं क्योंकि बहुत कर्म करने वालों को भी अंत समय इसी का विधान है ॥ ७५ ॥ अर्थात् चाहे कितना ही कर्म करो जब भगवान की भक्ति बिना गति नहीं तो उस भक्ति बिना के बहुत विधिपूर्वक किए हुए भी अनेक कर्म व्यर्थ ही हैं ॥

लघ्वपि भक्ताधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात् ॥ ७६ ॥

(क्योंकि) थोड़ा भी भक्ताधिकार बड़े पापों का नाशक होता है क्योंकि भगवान की अपने शरणागतों की वा नामस्मरण करने वालों के सर्व पापहानि की प्रतिज्ञा है ॥ ७६ ॥

तत्स्थानत्वादनन्यधर्मः खले वालीवत् ॥ ७७ ॥

(क्योंकि) भगवदाश्रय होने से (छोटे भी) भगवद्धर्म अनन्य धर्म ही हैं (और उनसे सब बड़े पापों का क्षय हो जाता है) जैसा ओखली में वालों का (अर्थात् ओखली में कितनी भी वाल पड़े सब

कुट पिस जांयगी वैसे ही भगवद्धर्म्म से कैसे भी पाप हों सब नाश हो जाते हैं)

आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात्सामान्यवत् ॥ ७८ ॥

चांडालयोनि को भी भगवद्भक्ति का अधिकार है क्योंकि परम्परा से भक्तों की समानता है ॥ ७८ ॥ और गज ग्रह वानर इत्यादि मनुष्य छोड़ कर और योनि के जीवों को भी भक्ति से सिद्धि मिली है तथा एक विशेषता यह भी है कि भारतखंड छोड़ कर खंडांतर-वासियों को तो केवल भक्ति ही का आश्रय है क्योंकि वे कर्म भूमि नहीं हैं कि वहां के लोग कर्म से सिद्ध हों ॥

अतोह्यविपक्कभावानामपि तल्लोके ॥ ७९ ॥

इसी हेतु परा भक्ति में जो पक्के नहीं हैं वे भी भगवल्लोक में वास करते हैं ॥ ७९ ॥ अर्थात् ब्राह्मण, शूद्र, चाण्डाल इत्यादि संज्ञा से अपने २ जाति की पूर्ण क्रिया करो तौभी सिद्धि नहीं कितना भी पुण्य करो अन्त में क्षीण होने पर मृत्युलोक में आना पड़ता है और भक्ति करने वालों का कभी नाश नहीं । जो पक्के नहीं हैं वे श्वेतद्वीप में रह कर भगवद्भक्ति में पक्क होकर अंत में भगवत्पद पाते हैं और भक्तों की कर्मवश से उपजी हुई कामनाओं को भी भक्ति अंत में भस्म कर देती है इसमें जड़भरत जी का उपाख्यान प्रमाण है ॥

क्रमैकगत्युपपत्तेस्तु ॥ ८० ॥

केवल क्रममात्र से गति तो क्रिया की है ॥ ८० ॥ अर्थात् "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते" "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिं" इत्यादि वाक्य में क्रम से जो सिद्धि पानी कही है वह सुकर्म

करने वालों को है भक्तों को तो एक भक्ति ही से सद्यः गति होती है ॥

उत्क्रान्तिस्मृतिवाक्यशेषात् ॥ ८१ ॥

क्योंकि भगवद्वाक्य में भक्तों को एक साथ सब क्रमों का उल्लंघन करके सिद्धि मिलना कहा है ॥ ८१ ॥ अर्थात् "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" इस वाक्य से भगवान ने अपने भक्त के अन्य धर्मों की और क्रम प्राप्त उनके गतियों की श्रीमुख से आप ही उपेक्षा की है और ९ अध्याय में अनेक प्रकार के सत्कर्म इत्यादि कह कर भी ३० । ३१ । ३२ । ३३ । ३४ श्लोकों में "हमारा भक्त कैसा भी दुराचारी हो उसको साधु ही समझना" कहा है और अनेक जन्म तथा कर्मादिकों को उल्लंघन करके उसकी सद्यः गति की और उस गति के फिर कभी न नाश होने की "क्षिप्र, शश्वत," इत्यादि शब्द कथनपूर्वक प्रतिज्ञा की है ॥

महापातकिनां त्वार्तौ ॥ ८२ ॥

(जो कहो कि जो बड़े २ पापी लोग हैं व भी क्रम को उल्लंघन करके परम पद पावेंगे इस पर कहते हैं कि) महापातकियों की भक्ति तो आर्तों की भक्ति में हैं ॥ ८२ ॥ अर्थात् पापी लोग अपने पाप की निवृत्ति के हेतु भक्ति करते हैं उनकी भक्ति सहजा नहीं जिनको भक्ति सहज है उनके पापों के हेतु तो "अपिचेत्सुदुराचारो" इत्यादि वाक्य जागरूक ही हैं ॥

सैकान्तभावो गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात् ॥ ८३ ॥

परा भक्ति ही का नाम एकान्त भाव है क्योंकि गीता में ऐसा

ही कहा है ॥ ८३ ॥ यथा "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां" "यो मां पश्यति सर्वत्र" "मन्मनाभवमद्भक्तो" "मत्कर्मकृन्मत्परमोमद्भक्तः" "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः" "तमेव शरणं गच्छ" "सर्वधर्मान्परित्यज्य" इत्यादि वाक्यों से और उनके उपक्रमोपसंहार से सिद्ध है ॥

परां कृत्वैव सर्वेषां तथाह्याह ॥ ८४ ॥

(जो कहो की गीता जी के वाक्यों की प्रवृत्ति तो ज्ञान, योग, सत्कर्म कीर्तनादि गौणी भक्ति इत्यादि अनेक विषयों पर है इस पर कहते हैं) कि श्रीमद्भगवद्गीता के वाक्यों की प्रवृत्ति तो परा भक्ति ही को मुख्य करके है ऐसा ही आप ने कहा भी है ॥ ८४ ॥ क्योंकि जब आप ने "मन्मनाभवमद्भक्तो मद्याजीमांनमस्कुरु ॥ मामेवैष्यसि कौन्तेय प्रतिजाने प्रियोसि मे ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥ अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः" ये दो वाक्य साधन-सिद्धा परा भक्ति ही के मुख्यता के हेतु कहे तो इसकी श्रेष्ठता के हेतु पहिले आग्रह पूर्वक "सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः" इससे अगले दोनों वाक्यों की महिमा कही और लोक में भी प्रसिद्ध है कि मनुष्य किसी को सौ उपदेश करे परन्तु अन्त में जो निचोड़ कर कहे वही बात मुख्य होती है परंच गीता जी के कहने का तो फल परा भक्ति ही है यह आप ने "यइदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ॥ भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः" इस वाक्य में कहा है इससे और "अहं" "त्वां" इन दो पदों के अलग होने से श्रीमद्गीता की प्रवृत्ति केवल भक्ति ही के हेतु है न ज्ञानकर्मादिकों के यही सिद्ध हुआ ॥

॥ द्वितीयाध्याय का द्वितीयाह्निक समाप्त हुआ ॥

भजनीयेनाद्वितीयमिदं कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात् ॥ ८५ ॥

(भक्ति की उत्कर्षता और जीवों के साधन कह कर अब सच्चिदानन्दमय परमेश्वर और उसके सदंश से जगत् और चिदंश से जीव और आनन्दमय श्री विग्रह इनका परस्पर सम्बंध दिखाते हैं) यह सब ईश्वर स्वरूप ही है इस से भजनीय अर्थात् भगवान से यह अलग नहीं है ॥ ८५ ॥ इस सूत्र से मिथ्यावाद निरस्त करते हैं क्योंकि मिथ्यावादियों के मत से संसार असत्य है परन्तु यहांपर सूत्रकार भगवान् शाण्डिल्य मुक्त कण्ठ से जगत् की सत्यता प्रतिपादन करते हैं और इस जगत् का विस्तार इस प्रकार से है कि सच्चिदानन्दमय ईश्वर को जब संसार की इच्छा हुई तो अपने सदंश से जड़ प्रपंच किया और चिदंश से चैतन्य प्रपंच (जीव सृष्टि) किया जीव में आनन्दांश का तिरोभाव है क्योंकि बहुत काल से आनन्दराशि भगवान से इनका वियोग है और उस वियोग का न इनको स्मरण है न वियोगजन्य दुःख है सो भगवान की कृपा से वा उसके भक्तों की कृपा से उसके वियोग का स्मरण आना ही मानो उसके आनन्दांश के आविर्भाव का कारण है और इसी से उसके एक अंश में स्थित यह सब नित्य सत्य है ॥

तच्छक्तिर्माया जडसामान्यात् ॥ ८६ ॥

(मिथ्यावादि का निराकरण करके अब मायावादी का निराकरण करते हैं) कि माया स्वतंत्र कोई वस्त्वंतर नहीं है किन्तु भगवान के शक्ति ही का नाम माया है और वह भी जड़ अर्थात् अपनी सहज चैतन्यता शून्य अन्य चिदंश के समान है ॥ ८६ ॥ इस से

मायावादियों का ईश्वर का माया के फंद में फसना और शाक्तों का स्वतंत्र शक्तिवाद निरस्त हुआ ॥

व्यापकत्वाद्व्याप्यानाम् ॥ ८७ ॥

(सदंश में चिदंश और चिदंश में आनन्दांश व्याप्य है इस से परस्पर इन में व्याप्य व्यापक भाव हुए तो अब संसार की व्याप्य और ईश्वर की व्यापक संज्ञा हुई तो फिर से उसकी सत्यता और शुद्धाद्वैतता दिखाने के हेतु कहते हैं) कि व्यापक के सत्य होने से उसका व्याप्य भी सत्य ही है ॥ ८७ ॥

न प्राणिबुद्धिभ्योऽसंभवात् ॥ ८८ ॥

(मायावाद निराकरण करके उसके समान ही नास्तिक वाद का भी निराकरण करते हैं) यह किसी प्राणी की बुद्धि से नहीं बना है, क्योंकि इसकी रचना प्राणियों की बुद्धि के बाहर है इससे यह प्राणियों की बुद्धि से बना है यह बात असंभव है ॥ ८८ ॥

निर्मायोच्चावचं श्रुतीश्च निर्मिमीते पितृवत् ॥ ८९ ॥

यह सब भूत समूह बना कर वेदों को बनाता है पिता की भांति ॥ ८९ ॥ जैसे पिता पुत्रों को उत्पन्न करके फिर उनको शिक्षा देता है वैसे ही भगवान अपने एकांश से जीवों को प्रगट कर के फिर उनको शिक्षा के हेतु वेद कहता है ॥

मिश्रोपदेशान्नेति चेन्न स्वल्पत्वात् ॥ ९० ॥

जो कहो कि वेद के उपदेश मिश्र हैं अर्थात् अग्निष्टोमादिक यज्ञ में हिंसा का विधान है इससे ये वेद ईश्वर के बनाये नहीं ऐसा नहीं क्योंकि वह भाग उसमें बहुत ही थोड़ा अर्थात् उपेक्षित है ॥ ९० ॥

फलमस्माद्बादरायणो दृष्टत्वात् ॥ ९१ ॥

(अब कर्मवादियों का मत निराकरण करते हैं) कि ये कर्म स्वतः फलदाता नहीं फल देनेवाला ईश्वर ही है यह व्यास जी कहते हैं क्योंकि ऐसाही देखा भी जाता है ॥ ९१ ॥ जैसे राजा के लोभ के हेतु अनेक कर्म करो परन्तु उसका प्रतिफल देना राजा ही के अधिकार में है और बिना कुछ सेवा किये भी राजा फल दे सकता है वैसे ही ईश्वर का प्रसन्न होना कर्म के आधीन नहीं कर्म केवल साधक है ॥

व्युत्क्रमादप्ययस्तथाहृष्टम् ॥ ९२ ॥

लय उलटी चाल से होता है ऐसा ही देखा गया है ॥ ९२ ॥ जैसे गोरखधंधे की डिबियों को फैलाते जाओ तो कई डिबियां हो जाती हैं और जब बंद करो तब सब से छोटी अपने से बड़ी डिबिया में और वह अपने से बड़ी में इसी प्रकार अंत वाली बड़ी डिबिया में सब डिबिया छिप जाती हैं वैसे ही जिस क्रम से उत्पत्ति होती है (अर्थात् ब्रह्म से प्रकृति, प्रकृति से महत्तत्व इत्यादि एक से एक उत्पन्न होते हैं) वैसे ही लय होने के समय सब भगवान में लय पाते हैं इस से फिर भी संसार की अनित्यता सिद्ध किया ॥

तीसरे अध्याय का प्रथमाह्निक समाप्त हुआ ॥

तदैक्यं नानात्वैकत्वमुपाधियोगहानादादित्यवत् ॥ ९३ ॥

उसकी एकता है क्योंकि उपाधि के योगों के मिटने से नानात्व का एकत्व हो जाता है आदित्य की भांति ॥ ९३ ॥ जैसे "ध्येय

सदा सवितृमंडलमध्यवर्ती" इत्यादि वाक्यों से भगवान का स्वरूप और आदित्यमंडल यह दो पृथक् प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तव पृथक् हैं नहीं क्योंकि जब मंडलरूपी उपाधि को भगवान् अपने में लय कर लेता है तब केवल नारायण संज्ञा रह जाती है वैसे ही जब संसार को अपने में लय कर के उसके संयोग वियोगात्मक "संसार" इस नाम को भी अपने में लय कर लेता है तब केवल आपही रह जाता है ॥

पृथगितिचेन्न परेणासम्बन्धात्प्रकाशानां ॥ ९४ ॥

अलग कहो सो नहीं ऐसा कहने से पर अर्थात् भगवान से असम्बन्ध होगा जैसे प्रकाशों का ॥ ९४ ॥ प्रकाशों का अर्थात् सूर्य मंडल की और नारायण की जैसी एकता है वैसे ही भगवान से इसमें एकता है इन दोनों का असम्बन्ध नहीं हो सकता ॥

नविकारिणस्तु करणविकारात् ॥ ९५ ॥

ये आत्मा विकारी नहीं हैं क्योंकि ऐसा माननेसे उनके कारण अर्थात् भगवान को भी विकार मानना पड़ेगा ॥ ९५ ॥

अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तं ॥ ९६ ॥

(भजनीय का और भजन करने वालेका स्वरूप दिखा कर उनके वियोगस्मृति का स्मारक फिर से कहते हैं।) कि उस परमानन्दमय भगवान में अनन्यभक्ति करते करते भृंगी कीट की भांति तद्बुद्धि हो जाती है और उस बुद्धि के भी लय होने से अर्थात् वियोग जन्य असह्य दुःख से सब सुध बुध छूट जाने से अत्यन्त अर्थात् सब वासनाओं

के मोक्ष होने से परमानन्द अर्थात् आनन्द मात्र कर पाद मुखोदरादि भगवान श्रीकृष्णचन्द्र से नित्य लीला में संयोग होता है ॥ ९६ ॥

आयुश्चिरमितरेषांतुहानिरनास्पदत्वात् ॥ ९७ ॥

(जो कहो कि संचित प्रारब्ध का भोग तो हुआ ही नहीं आनन्द प्राप्ति कैसे हुई इस पर कहते हैं) कि साधारण जीवों की आयु ही प्रारब्ध को भोग कराने वाली है परन्तु भगवद्भक्तों को तो उन संचित प्रारब्धों की आप ही हानि हो जाती है क्योंकि उसकी आश्रय आयु का भोग नहीं रहता ॥ ९७ ॥ अर्थात् जिनको भगवद्वियोग स्मरण में एक एक क्षण कोटि कोटि कल्प तुल्य असह्य यंत्रणा सहते हुए बीतते हैं वा संयोगलीला स्मरण से एक एक क्षण लाख लाख बरस तक स्वर्ग के सुख के भोग के समान बीतते हैं उनके सब भले बुरे प्रारब्ध इस वियोग संयोग के अनुभव में भस्म हो जाते हैं ॥

संसृतिरेषामभक्तिः स्यान्नाज्ञानात्कारणासिद्धेः ॥ ९८ ॥

और जीवों को संसार की कारण अभक्ति है, अज्ञान नहीं, कारण की असिद्धि से ॥ ९८ ॥ अर्थात् संसार के कारण भगवान में अभक्ति ही बंधन की हेतु होती है, क्योंकि बंध मोक्ष का दाता ही जिस से रूठा रहेगा उसे मोक्ष कहां ॥

त्रीण्येषां नेत्राणि शब्दलिंगाक्षभेदाद्रुद्रवत् ॥ ९९ ॥

(जो कहो कि जीव कैसे जानें इस पर कहतेहैं) कि इन जीवों को श्रीमहादेव जी की भांति तीन नेत्र हैं अर्थात् तीन प्रकार से ये जानें कुछ तो शब्द अर्थात् वेदादिकों से, कुछ लिंग अर्थात् अनुमान से और कुछ अक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष से जानें ॥ ९९ ॥

आविस्तिरोभावाविकाराः स्युः क्रियाफलसंयोगात् ॥ १०० ॥

लय और उत्पत्ति क्रियाफल के संयोग से विकार हैं ॥ १०० ॥ अर्थात् वास्तविक निर्विकार भावों में क्रिया फल के संयोग से विकार प्रतीत होता है भगवत्स्वरूप ज्ञानानन्तर भक्ति पाने से मनुष्य वास्तविक स्वरूप जानैगा इस से भक्ति ही मुख्य है ॥ इति ॥

जेहि लहि फिर कछु लहन की आस न चित में होय ।
जयति जगत पावन करन प्रेम बरन यह दोय ॥ १ ॥
व्याकुल लखि सब जीवगन ज्ञान करम बहु मानि ।
कियो सूत्र शांडिल्य ऋषि परम भक्ति की खानि ॥ २ ॥
सुमिरि राधिका प्रानपति ब्रजजुवतीमनकन्द ।
यह ताको भाषा तिलक किय तदीय हरिचन्द ॥ ३ ॥
शांडिल्य सूत्र और उस का भाषा भाष्य समाप्त हुआ ।

अथ पाठान्तर ।

३ पेज १५ सूत्र· अभिज्ञायाः साहाय्यात् इति श्री उपासना सर्वस्व तथा श्री काष्ठजिह्वस्वामि धृत पाठ ।
९ पेज २६ सूत्र· तत्त्वानुज्ञानाय सामर्थ्यात् इति पूर्वोक्त पाठ ।
१० पेज ३० सूत्र· आत्मैकपरां इति पूर्वोक्त पाठ ।
१० पेज ३१ सूत्र· उभयपरां इति पूर्वोक्त पाठ ।
१० पेज ३२ सूत्र· प्रत्यभिज्ञानवत् इति पूर्वोक्त पाठ ।
११ पेज ३४ सूत्र· यहां से स्वप्नेश्वर के पाठ से पूर्वोक्त ग्रन्थों के पाठ से बड़ा भेद है । यथा जन्मकर्मविदश्चाजन्मने शब्दात् ३४ तच्च दिव्यं स्वशक्तिमात्रोद्भावात् ३५ मुख्यं तस्य हि कारुण्यं ३६

प्राणित्वान्नविभूतिषु ३७ द्यूत राजसेवयोः प्रतिषेधाच्च ३८ वासु-
देवेपीतिचेन्नाकारमात्रत्वात् ३९ प्रत्यभिज्ञानाच्च ४० वृष्णिषु
श्रैष्ठ्येनतत् ४१ एवं प्रसिद्धेषु च ४२ भक्त्या भजनोपसंहारात् परायै
हेतुत्वात् ४३ रागार्थप्रकीर्तिसाहचर्याच्चेतरेषाम् ४४ अन्त-
राले च शेषाः स्युरुपास्यादौ च कांडत्वात् ४५ ताभ्यः पावित्र्य-
मुपक्रमात् ४६ तासुप्रधानयोगात् फलाधिक्यमेके ४७ नाम्नेति जै-
मिनिः सम्भवात् ४८ अंग प्रयोगाणां यथा कालं सम्भवो गृहादि-
वत् ४९ ईश्वर तुष्टेरेकोपिबली ५० अबन्धोऽर्पणस्य मुखम् ५१
ध्याननियमस्तु दृष्टि सौकर्यात् ५२ इत्याद्रिः पूजायामिव प्रयुक्तः
५३ पादोदकं तु पाद्यमव्याप्तेः ५४ स्वयमर्प्यर्पितं ग्राह्यमविशेषात्
५५ निमित्तगुणाव्यपेक्षणादपराधेषु व्यवस्था ५६ पत्रादेर्दानमन्यथा
हि वैशिष्ट्यम् ५७ सुकृतजत्वात् परहेतु भावाच्च क्रियासु श्रेयस्यः
५८ गौणत्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम् ५९ बहिरंतःस्थ
मुभयमवेष्टि संबंधवत् ६० प्रमादसत्वासत्वाभ्यां विशेषात् ६१
स्मृतिकीर्त्योः कथादेश्चार्त्तौ प्रायश्चित्त भावात् ६२ भूयसामननु-
ष्ठितिरिति चेदाप्रायणमुपसंहारान्महत्स्वपि ६३ लघ्वपि भक्ताधि-
कारे महत् क्षेपकमपरसर्वहानात्, ६४ तत्स्थानत्वदन्यधर्मः खले
वालीवत् ६५ आनिंद्य योन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्
६६ अतो ह्यविपक्वभावानामपितल्लोके ६७ क्रमैकगत्युपपत्तेस्तु
६८ उत्क्रान्ति वाक्यशेषात् ६९ महापातकिनां त्वार्तौ ७० सैकांत
भावो गीतार्थं प्रत्यभिज्ञानात् ७१ परां कृत्येव सर्वेषां तथा ह्याह
७२ भजनीयमद्वितीय मिदम् कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात् ७३ तच्छक्ति
र्माया जड़ सामान्यात् ७४ व्यापकत्वात् व्याप्यानां ७५ न प्राणि

बुद्धिभ्योऽसम्भवात् ७६ निर्मायोच्चावचं श्रुतीश्च निर्मिमीते पितृवत् ७७ मिश्रोपदेशान्नेति चेन्न स्वल्पत्वात् ७८ फलमस्माद् बादरायणो दृष्टत्वात् ७९ व्युत्क्रमादप्ययस्तथा दृष्ट ८० तदैक्यं नानात्वमुपाधितः ८१ पृथगेव चेन्न परेणासंबंधात् ८२ अविकारिणस्तु करण विकारात् ८३ अनन्य भक्त्या तद्बुद्धिलयादत्यंतं ८४ धामादिवत् त्रिशिष्टतया पुमर्थत्वात् ८५ आयुश्चिरमितरेषां तु हानिरनास्पदत्वात् ८६ संसृति रेषामभक्तेः स्यान्नाज्ञानात् कारणासिद्धेः ८७ त्रीण्येषां नेत्राणि शब्दलिंगाक्षभेदाद्रुद्रवत् ८८ आविस्तिरोभावा विकाराः क्रियाफलसंयोगात् क्रिया फल संयोगात् ८९ इस क्रम से सूत्रों के पाठ ग्रन्थ समाप्ति तक हैं । इति ॥

अथ उपसंहार

हम लोगों के आर्य शास्त्रों में श्रुतियों के पीछे मूल सूत्रों का बड़ा आदर है । ये सूत्र भिन्न २ ऋषियों ने भिन्न २ शास्त्रों के प्रतिपादन को बनाए हैं और पीछे उन्ही पर भाष्य व्याख्या टिप्पनी टीका बना बना कर लोगों ने उन शास्त्रों को बढ़ाया है । यथा जैमिनि ने पूर्वमीमांसा, व्यास ने उत्तर मीमांसा, गौतम ने न्याय, कणाद ने वैशेषिक, कपिल ने सांख्य और पतंजलि ने योग सूत्र बनाए हैं । इन्ही छ शास्त्रों की संख्या षड् दर्शन है । इन में पूर्व मीमांसा सब से प्राचीन बोध होता है । इन सूत्रों को छोड़ कर और भी अनेक सूत्र हैं यथा पाणिनि के व्याकरण सूत्र, वात्सायन के काम सूत्र, वामन और भरत के अलंकार शास्त्र पर सूत्र, पिंगल के छन्दःशास्त्र पर और दूसरे दूसरे ऋषियों के अन्य अन्य शास्त्रों पर । वैसेही भक्ति शास्त्र पर शांडिल्य ऋषि के और नारद जी के सूत्र हैं । कहते हैं

कि संकर्षण सूत्र और उसका प्रचीन भाष्य उपासना पर आगे प्रचलित था किंतु अब उसकी पुस्तक अप्रकाशित रह गई है।

इस शांडिल्य सूत्र के भाष्यकारों ने सूत्रों के आरम्भ करने के पूर्व उपासना रहस्य नामक अथर्व वेद की श्रुति का एक प्रकरण लिखा है। उसका आशय यह है कि ब्रह्मा ने श्री शिवजी से भक्ति का भेद पूछा है उस पर थोड़े से में शिवजी ने ब्रह्मा से भक्ति स्वरूप कथन किया है। ब्रह्मा जी ने वह रहस्य नारद वशिष्ठ असित देवल और शांडिल्य से कहा है।

इस प्रकार हम आर्य लोगों का मूल शास्त्र वेद त्रिकांड कहलाता है अर्थात् कर्म ज्ञान और उपासना। पहले शास्त्र जीवों को कर्म का उपदेश करता है, उन कर्मों से शुद्ध अधिकारी जीव को ब्रह्मज्ञान कहता है, फिर जब ज्ञान हो लेता है तो उसको उपासना का उपदेश देता हुआ परम सिद्धि को पहुंचता है।

आज कल काल के प्रभाव से उपासनाकांड का प्रचार विरल हो गया है इसी हेतु इस सूत्र का भाषा में अर्थ प्रचार किया गया इस से जगत् का परमोपास्य तुष्ट हो। इति। हरिश्चन्द्र

अथ दैन्यप्रलाप

जग मैं काको कीजै तोस। जासों तनकहु विरति कीजिए सोई धारत रोस। इन्द्रिय सब अपुनी दसि खींचत चाहि चाहि निज भोग। मन अलभ्य वस्तुन हू भोगत मानत तनिक न सोग॥ करति प्रतिष्ठा तुमहि बढ़ाओ चहति कामना आन। ईषा कहति तुमहि इन जीअहु मारि औरन ठिकान॥ जागत सपन काय वाचा सों मन सों भोगत धाय। घिसि गईं इन्द्री प्रान सिथिलि भे तौहू नाहिं अघाय॥

छौन मिलत के तन जल नाहिं तो दूरहि सों ललचाय । जिमि सतृष्ण है लखत मिठाइन स्वान लार टपकाय ॥ सत्र सों थकि कै करत स्वर्ग के अमृतादिक मैं चाह । धिक धिक धिक हरिचन्द मनत धिक यह जग काम अथाह ॥ १ ॥

पूरबी २

तन पौरुष सब थाका मन नहिं थाका की माधो ।
केस पके तन पक्यौ रोग सों मनुआ तबहु न पाका ॥
अर्जुन भीम सरिस चाहत यह करन विषय रन साका ।
बीती रैन तबौ मतवारा घोर नींद मैं छाका ॥
हारि गयो पै झूठहि गाड़े अबहूं विजय पताका ।
हरिचन्द तुम बिनु को रोकै ऐसे ठग को नाका ॥ १ ॥

३

नर तन सब अवगुन की खान । कहैं कुटिल गति कोयहु तामैं यामैं श्रुति परमान ॥ स्वारथपन आत्मअभिमानता लोभ काम अरु क्रोध । कामादिक सब नित्य धरम हैं तन मन के निरबोध ॥ तापैं सह धरमिन सों पूरयौ भो संसार सहाय । अन्ध आसरे चल्यौ अन्ध के कहो कहा लौं जाय ॥ करि करुना करुना निधि केसव जोपै पकरैं हाथ । तौ सब बिधि हरिचन्द बचै नतु डूबत होइ अनाथ ॥ १ ॥

४

नर तन कहो सुद्धता कैसी । कितनहुं धोओ पोछो बाहर भीतर सब छिन पैसी । कारन जाको भूत रही मल सो मैं लिपटि अनैसी । ताको जल सों सुद्ध करत तिनकी ऐसी की तैसी ॥

दैहिक कारमन सों न बनै कछु ता गति सहज मलै सी। हरिचन्द हरि नाम भजन बिनु सब वैसी की वैसी ॥ १ ॥

५

बिरद सब कहां भुलाए नाथ। पावन पतित दीन जन रच्छन जो गाई श्रुति गाथ ॥ जानहु सब कछु अन्तरजामी धाइ गहौ अब हाथ। हरिचन्द मेटहु निज जन की बिधिहु लिखी जो माथ ॥ १ ॥

६

तुम सों कहा छिपी करुनानिधि जानहु सब अन्तर गति। सहज मलिन या देह जीव की सहजहि नीच गामिनी जो मति ॥ तन मन सपनहुं सो लोभी की दीन बिषय गन मैं रति। निरलज जितनो होत पराजित तितनो ही लपटत अति ॥ तापैं जो तुमहूं बिसराओ तजि निज सहज बिरद गति। तौ हरिचन्द बचै किमि बोलहु अहो दीन जन के पति ॥ १ ॥

७

देखहु निज करनी की ओर। लखहु न करनी जीवन की कछु हेरो नन्दकिसोर। अपनाए की लाज करहु प्रभु लखहु न जन के दोस। निज बानै को बिरद निबाहो तजहु हीन पर रोस ॥ दीनानाथ दयाल जगत पति पतित उधारन नाथ। सब बिधि हीन अधम हरिचन्दहि देहु आपुनो हाथ ॥ १ ॥

८

करहु उन बातन की प्रभु याद। जो अरजुन सों भारत रन मैं कही यदपि मरजाद। कैसहु होय दुराचारी पै सेवै मोहि अनन्य। ताही कहं तुम साधु गुनहु या जग मैं सोई

धन्य । शीघ्र परमगति शान्ति पाइहैं जो राखत मम आस । अरजुन मम परतिज्ञा जानहु नहि मम भक्त विनास ॥ छाड़ि धरम सब लोक वेद के मम सरनहिं इक आउ । सब पापन सों तोहि छुड़ैहौं कछुन सोच जिय लाउ ॥ कही बिभीषन सरन समय मैं सोऊ सुमिरहु गाथ । लछिमन हनूमान आदिक सब याके साखी नाथ ॥ हम तुमरे हैं कहै एकहू बार सरन जो आइ । ताहि जगत सों अभय करत हम सबहि भांति अपनाइ ॥ यहू कह्यौ मम जनहि वासना उपजै और न होय । जिमि भूंटे चुरए धानन मैं उपजै नाहीं बीय ॥ यहू कह्यौ तुम मोकहं प्यारे निहकिंचन अरु दीन । यहू कह्यौ तुम हमहिं जीव के प्रेरक अंतर लीन ॥ कहं लौं कहौं सुनौ इतनी अब सत्यसंध महराज । हरीचन्द की बार भुलाई क्यों ये बातैं आज ॥

तिनकों रोग सोग नहिं व्यापै जे हरिचरन उपासी ।
सपनहुं मलिन न होइं सदा जे कलपतरोवर बासी ॥
हरि के प्रबल प्रताप सामुहे जगत दीनता नासी ।
हरीचंद निरभय बिहरहिं नित कृपादास अरु दासी ॥ १ ॥
